

शिक्षा की सामाजिक विकास में भूमिका

सारांश

व्यक्ति जन्म से सामाजिक प्राणी है। यदि उसे समाज से पृथक कर दिया जाय तो उसका जीवित रहना कठिन है। समाज में अनेक आवश्यकताये तथा समस्यायें होती है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति एवं समस्यायें के समाधान से समाज का रहन-सहन ऊँचा उठता है तथा वह दिन प्रतिदिन प्रगति की ओर अग्रसर होता है जो समाज उचित शिक्षा की व्यवस्था नहीं कर पाता वह अपने सीमित क्षेत्र में अपनी सीमित आवश्यकताओं और ढंगो वाली संस्कृति से ही लिपटा रहता है। समाज के विकास के लिए समाज नई पीढ़ी को अच्छी से अच्छी शिक्षा की व्यवस्था करने का प्रयास करता है। यही कारण है कि प्राचीन काल से लेकर अब तक समाज ने अपने प्रगति के लिए राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए शिक्षा सदैव अपने आदर्शों और उद्देश्यों के अनुसार मोड़ा है तथा अब तक मोड़ रहा है। इसलिए स्कूल को समाज लघुरूप की संज्ञा दी जाती है। समाज शिक्षा संस्था के रूप में बालक को औपचारिक तथा अनौपचारिक दोनों रूप से शिक्षित करता है।



मोनिका गौतम

असिस्टेन्ट प्रोफेसर,
समाजशास्त्र विभाग,
महाराजा बिजली पासी
राजकीय स्नातकोत्तर
महाविद्यालय,
आशियाना, लखनऊ

मुख्य शब्द : सामाजिक, शिक्षा, मनुष्य

प्रस्तावना

यह संसार एक रंगमंच की भाँति है। यहाँ पर समस्त जीव, नर-नारी, एवं बच्चे अपने सर्वशक्तिमान स्वामी ईश्वर के इशारे पर अपना-अपना अभिनय करते हैं। वास्तव में हम महान भाग्यशाली हैं, जो हमें मनुष्य जीवन प्राप्त हुआ है। मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियों में विधाता की प्रथम और सर्वोत्तम कृति है। मनुष्य का मनुष्यत्व ही उसे पशु से पृथक करता है और यह उपयोगी शिक्षा से ही सम्भव है। इस सम्बन्ध में कहा गया है कि "विद्या विहीनः पशुभिः समानः।" शिक्षा मानव विकास का मूल साधन है। इसके द्वारा मनुष्य की जन्मजात शक्तियों का विकास उसके ज्ञान एवं कला-कौशल में वृद्धि तथा व्यवहार में परिवर्तन किया जाता है और उसे सभ्य, सुसंस्कृत एवं योग्य बनाया जाता है। 'शिक्षा एक आजीवन चलने वाली प्रक्रिया है।' (Education is a life long Process) प्रत्येक प्राणी जन्मोपरान्त शिक्षा की शरण में जाता है और तब तक उसका दामन पकड़े रहता है जब तक मृत्युलीन नहीं हो जाता। इस प्रकार बच्चे के जन्म के समय के कुछ दिन बाद उसके माता-पिता एवं परिवार के अन्य सदस्य उसे सुनना और बोलना सिखाने लगते हैं। जब बच्चा कुछ बड़ा हो जाता है तो उसके उठने-बैठने, चलने-फिरने, खाने-पीने तथा सामाजिक आचरण की विधियाँ सिखाई जाने लगती हैं। जब वह तीन-चार वर्ष का होता है तो उसके पढ़ना-लिखना सिखाने लगते हैं। इसी आयु पर उसे विद्यालय भेजना प्रारम्भ किया जाता है, विद्यालय में उसकी शिक्षा बड़े सुनियोजित ढंग से चलती है। विद्यालय के साथ-साथ उसे परिवार एवं समुदाय में भी कुछ सिखाया जाता है और सीखने-सिखाने का क्रम विद्यालय छोड़ने के बाद भी चलता रहता है और जीवन भर चलता रहता है। समाज में शिक्षा की यह प्रक्रिया सदैव चलती रहती है। अपने वास्तविक अर्थ में किसी समाज में सदैव चलने वाली सीखने-सिखाने की यह सप्रयोजन प्रक्रिया ही शिक्षा है। शिक्षा द्वारा व्यक्ति नित-नवीन, ज्ञान-विज्ञान की जानकारी प्राप्त करके अपने अनुभवों में सुधार एवं परिशोधन करता रहता है, जिससे वह जीवन की परिस्थितियों में अपने आपको समायोजित करने में समर्थ होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि व्यक्ति के विकास पर अनेक कारकों यथा-पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक शैक्षिक आदि का प्रभाव पड़ता है।

व्यक्ति जन्म से सामाजिक प्राणी है। यदि उसे समाज से पृथक कर दिया जाय तो उसका जीवित रहना कठिन है। बालक समान में ही जन्म लेता है तथा समाज में ही उसका पालन-पोषण होता है। समाज में ही रहते हुए वह बोलना-चालना, पढ़ना-लिखना तथा दूसरे व्यक्तियों से व्यवहार करना सीखता है। समाज में रहकर ही उसकी सारी आवश्यकताएँ पूर्ण होती हैं तथा विभिन्न

विचारों के आदान प्रदान से बालक के व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास होता है। समाज की उन्नति से ही वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति करता है तथा समाज की हानि से उसे भी हानि पहुँचती है। सामाजिक स्थिति के आधार पर समाज के तीन स्तर दृष्टव्य होते हैं:—उच्च, मध्यम और निम्न इस प्रकार अपने सम्पूर्ण विकास के लिए वह समाज का ऋणी है। इस ऋण को चुकाना उसका परम कर्तव्य है। यह ऋण मात्र उचित प्रकार की शिक्षा प्राप्त कर ही चुकाया जा सकता है। अतः शिक्षा की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जिसके द्वारा समाज दिन-प्रतिदिन उन्नति के शिखर पर चढ़ता रहे।

आर्थिक परिस्थिति का भी व्यक्ति के विकास पर गहरा प्रभाव पड़ता है। आर्थिक स्तर पर ही मनुष्य का जीवन स्तर तथा रहन-सहन का ढंग निर्भर करता है। साथ ही आर्थिक स्तर पर ही समाज के उच्च, मध्यम और निम्न वर्ग बन जाते हैं। आर्थिक स्तर पर ही बालक को मिलने वाली शैक्षिक सुविधाएँ निर्भर करती हैं। इन सुविधाओं के आधार पर ही बालक का विकास होता है और शैक्षिक प्रेरणा मिलती है। इसी के अनुसार उपलब्धि, समायोजन एवं सृजनशीलता भी होती है। आज के अर्थ प्रधान या पूँजी प्रधान युग में अर्थ ही सम्पूर्ण क्रिया-कलापों का जनक पोषक, रक्षक एवं नियामक होता है। इस सम्बन्ध में संस्कृत का कथन दृष्टव्य है:—

“यत्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः
स पण्डितः सश्रुतवानगुणा ।
स एव वक्ता, स च दर्शनीयः
सर्व गुणाः का चनमाश्रयन्ति ॥

—नीतिशत

बालक का ज्यों ही जन्म होता है वह समाज के सम्पर्क में आता है उसकी शिक्षा प्रारम्भ हो जाती है। वह जिस प्रकार का वातावरण पाता है व उसी के अनुरूप क्रियाएँ करने लगता है। इसका कारण यह है कि प्रारम्भ में बालक अनुकरण द्वारा ही सीखता है। यही कारण है कि प्रारम्भ में बालक अनुकरण द्वारा ही सीखता है। यही कारण है कि इंग्लैण्ड में जन्मा बालक अंग्रेजों की तरह और भारत में जन्मा बालक भारतीयों की तरह रहन-सहन, उठने-बैठने, खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने तथा जीवन निर्वाह करने में अभ्यस्त होता है। इस प्रकार की क्रियाओं में न तो उसे कोई कठिनाई होती है और न ही अभ्यास की आवश्यकता पड़ती है, बस यही बात समाज के विषय में भी सिद्ध होती है। उदाहरणार्थ एक पढ़े-लिखे शिष्ट उच्च समाज में उत्पन्न बालक जिस तरह बात-चीत के तौर-तरीके को स्वभावतः ग्रहण कर लेता है या भाषा का स्तर उसके स्वभाव में शामिल हो जाता है, एक निरक्षर निम्न परिवार का बालक पर्याप्त प्रयास के बाद भी वह स्वाभाविकता या प्रवीणता नहीं प्राप्त कर सकता। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि सामाजिक-आर्थिक स्तर का बालकों की शैक्षिक उपलब्धि, समायोजन तथा सृजनशीलता पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।

शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है। समाजशास्त्रियों का मानना है जब दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बीच सामाजिक अन्तः क्रिया होती है तो वे एक दूसरे की भाषा, विचार, आचरण, संस्कृति, रीति-रिवाज, परम्पराएँ एवं

प्रकृति से प्रभावित होते हैं। इस प्रभावित होने की प्रक्रिया को सीखना कहते हैं और जब यह कार्य कुछ निश्चित उद्देश्यों को सामने रखकर किया जाता है तो उसे 'शिक्षा' कहते हैं। यह सर्वविदित है कि मनुष्य कुछ शक्तियाँ लेकर पैदा होता है, प्राकृतिक एवं सामाजिक पर्यावरण में उसकी इन शक्तियों का विकास होता है और इसके परिणामस्वरूप ही मनुष्य के व्यवहार में परिवर्तन होता है। उदाहरण के लिए ध्वनियों को उच्चारित करने का तन्त्र मनुष्य को जन्म से प्राप्त होता है। परन्तु इस तन्त्र से भाषा वह उन्हीं लोगों की सीखता है, जिनके सम्पर्क में आता है और जिनके विचारों का आदान-प्रदान करता है। मनुष्य की पूरी सभ्यता एवं संस्कृति का विकास सामाजिक प्रक्रिया का ही परिणाम है। यह बात अवश्य है कि कर्मन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों के विकास और भाषा ज्ञान होने के बाद मनुष्य अकेले भी अवलोकन, परीक्षण, चिन्तन और मनन करता है और इस प्रकार भी सीखता है। इसके लिए आवश्यक है कि कर्मन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों का विकास भाषा ज्ञान एवं विचार शक्ति का विकास सामाजिक पर्यावरण में ही होता है समाज के अभाव में न तो हम भाषा सीख सकते हैं और न विचार करना। बालक अपने चारों ओर की वस्तुओं, भाषाओं, क्रियाओं का ज्ञान समाज में रहकर ही प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि शिक्षा सामाजिक उद्देश्यों एवं लक्ष्यों की प्राप्त का साधन है। जैसा समाज होता है और जैसी उसकी अकांक्षाएँ होती हैं वैसी ही उसकी शिक्षा होती है। वास्तविकता यह है कि शिक्षा समाज के भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों से सम्बन्धित होती है। उसके द्वारा समाज के भूत का ज्ञान, वर्तमान की आवश्यकताओं की पूर्ति और भविष्य का निर्माण किया जाता है। इस दृष्टि से शिक्षा सामाजिक प्रक्रिया है।

मनुष्य समाज का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है और शिक्षा सामाजिक प्रक्रिया है तो दोनों का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है, क्योंकि शिक्षा और समाज एक-दूसरे के पूरक और परस्पर सम्बन्धित हैं। वस्तुतः इनका सम्बन्ध पारस्परिक कारण और परिणाम का है, क्योंकि जैसा समाज होता है, वैसी ही शिक्षा होती है और जैसी शिक्षा होती है वैसा ही समाज होता है। इस सम्बन्ध में बॉयड एच0 बोड का कथन है:—“समाज और शिक्षा का एक-दूसरे से पारस्परिक कारण और परिणाम का सम्बन्ध है। किसी भी समाज का स्वरूप उसकी शिक्षा-व्यवस्था के स्वरूप को निर्धारित करता है और इस व्यवस्था का स्वरूप समाज के स्वरूप को निर्धारित करता है।”

भारतीय समाज में शिक्षा को सदैव ही एक सम्मानजनक स्थान दिया गया है। भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के महान नेताओं ने राष्ट्रीय विकास व नव-निर्माण के महान कार्यों में शिक्षा की भूमिका को स्वीकार किया। स्वतन्त्रता के उपरान्त भारतीय नेतृत्व ने लोकतन्त्रीय व्यवस्था में शिक्षा की सार्थक भूमिका को स्वीकार किया तथा राष्ट्रीय विकास में शिक्षा के योगदान को सुनिश्चित करने के लिए संविधान में शिक्षा सम्बन्धी कुछ प्राविधान किये। भारतीय संविधान की धारा 45 में व्यवस्था की गई है कि “राज्य इस संविधान के प्रारम्भ होने के दस वर्ष की अवधि के भीतर सभी बालकों को चौदह वर्ष की आयु पूरी

करने तक निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा देने के लिए प्रयास करेगा।”

निःसंदेह जनतन्त्र को सुदृढ़ बनाने के लिए, व्यक्ति के अधिकारों की सुरक्षा के लिए, कर्तव्यों का ईमानदारी से पालन करने के लिए तथा व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिए शिक्षा अनिवार्य है। राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी ने शिक्षा के महत्व को स्वीकार करते हुए कल्पना की थी कि शिक्षा का उद्देश्य अहिंसक तथा शोषण रहित सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था की स्थापना करना है। यह सूत्र वाक्य पर्याप्त चिंतन-मनन का परिणाम था तथा आज भी उतना ही संगत है जितना आज के साठ वर्ष पूर्व था। वर्तमान प्रजातांत्रिक समाज में शिक्षा की महत्वपूर्ण तथा सार्थक भूमिका सुस्पष्ट है। पंडित जवाहर लाल नेहरू ने भी राष्ट्र के विकास में शिक्षा को महत्वपूर्ण स्थान दिया। सन् 1947 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह में विश्वविद्यालय के मूल उद्देश्य एवं राष्ट्रीय जीवन में उसकी भूमिका के संदर्भ में उन्होंने कहा था- “विश्वविद्यालय का अस्तित्व मानवता के लिए, सहनशीलता के लिए, विवेक के लिए, विचारों में साहस के लिए तथा सत्य की खोज के लिए होता है। विश्वविद्यालय मानव जाति के प्रयास की उच्चतम उद्देश्यों की ओर अग्रसर करने के लिए अस्तित्व धारण करते हैं। यदि विश्वविद्यालय अपने इन कर्तव्यों का सम्पादन पर्याप्त ढंग से करते हैं तो वे सही अर्थों में राष्ट्र और लोगों का कल्याण करते हैं।” कोठारी आयोग (1964-66) ने भी राष्ट्रीय विकास में शिक्षा की भूमिका की चर्चा करते हुए कहा है कि “शिक्षा का विकास इस ढंग से किया जाना चाहिए कि इससे राष्ट्रीय उत्पादकता में वृद्धि हो, सामाजिक तथा राष्ट्रीय एकता की भावना बढ़े, आधुनिकीकरण की गति में तेजी आए, तथा सामाजिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों का विकास हो।” अतः स्पष्ट है कि देश के विकास और उत्थान में शिक्षा की अहम् भूमिका हो सकती है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 के निर्माण के पूर्व राष्ट्र-व्यापी विचार विनिमय हेतु भारत सरकार के द्वारा 1985 में जारी किये गये आधार पत्र, “शिक्षा की चुनौती: नीति सम्बन्धी परिप्रेक्ष्य” में कहा गया है कि मानव के इतिहास में शिक्षा मानव समाज के विकास के लिए एक सतत प्रक्रिया और आधार रही है। मनोवृत्तियों, मूल्यों तथा ज्ञान और कौशल दोनों की ही क्षमताओं के विकास के माध्यम से शिक्षा लोगों की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप बनने के लिए उन्हें शक्ति और लचीलापन प्रदान करती है। सामाजिक विकास के लिए प्रेरित करती है तथा उसमें योगदार देने के योग्य बनाती है। निःसंदेह इतिहास से ज्ञात होता है कि राष्ट्रों के विकास में मानव संसाधनों द्वारा अदा की गई भूमिकाएं महत्वपूर्ण सिद्ध हुई हैं। इसके अतिरिक्त मानव संसाधनों का विकास करना शिक्षा का मुख्य कार्य है।”

भारत एक विकासशील देश है। सदियों की गुलामी के पश्चात् 15 अगस्त, 1947 में जब देश आजाद हुआ तो इसकी आर्थिक, शैक्षिक एवं सामाजिक दशा अत्यन्त शोचनीय थी। देश के नेताओं ने देश को आर्थिक रूप से सशक्त बनाने के लिए ठोस कदम उठाना शुरू

किया, किन्तु स्वतन्त्रता के 59 वर्षों के पश्चात् भी समाज ऊँच-नीच, अमीर-गरीब जैसे वर्गों में बंटा हुआ है। कुछ लोग ही सुविधा सम्पन्न जीवन व्यतीत कर रहे हैं, जबकि देश की एक बड़ी जनसंख्या जीवन की सुविधाओं से वंचित हैं। वे केवल भौतिक सुखों से ही वंचित नहीं हैं बल्कि शिक्षा के अवसरों से भी वंचित हैं। यदि उन्हें शिक्षा का अल्प अवसर मिलता भी है तो वे उन सुविधाओं से वंचित रह जाते हैं जो शिक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं।

डी0एन0 मजूमदार (1558) ने कहा है कि ‘परिवार बच्चे की पहली पाठशाला होती है।’ यदि परिवार के सदस्य शिक्षित, सभ्य एवं सुसंस्कृत हैं तो बच्चे पर संस्कार भी अच्छे पड़ते हैं जो बच्चे के पूरे जीवन को प्रभावित करते रहते हैं, निम्न सामाजिक-आर्थिक स्तर वाले परिवार के बच्चे भी ऐसे संस्कारों से वंचित रह जाते हैं, क्योंकि ऐसे परिवार के सदस्य निरक्षर गँवार एवं स्वास्थ्य के नियमों से अनभिज्ञ होते हैं। परिणामस्वरूप बच्चे तौर तरीकों से वंचित रह जाते हैं।

डीवी (1900) ने कहा है कि शिक्षा सामाजिक विकास का मेरुदण्ड होती है। शिक्षा अन्धकार में प्रकाश है, विकास का आधार है। शिक्षा मानव जीवन का एक सुसंस्कृत एवं महत्वपूर्ण पक्ष है। इसके द्वारा मानव अपना आर्थिक विकास करता है एवं जीवन में आर्थिक पूर्णता प्राप्त करता है, अपने आचार-विचार तथा रहन-सहन में परिवर्तन एवं परिमार्जन करता है। शिक्षा के द्वारा ही संसार की आर्थिक, वैज्ञानिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति होती है। प्रमुख दार्शनिक लॉक का कहना है कि “पौधों का विकास कृषि के द्वारा तथा मनुष्य का विकास शिक्षा के द्वारा होता है।” इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री जान डीवी (1900) ने कहा है कि “जिस प्रकार शारीरिक विकास के लिए भोजन का महत्व है उसी प्रकार सामाजिक विकास के लिए शिक्षा का है।” डॉ0 आर0के0 मुखर्जी (1947) के अनुसार ‘साहित्य किसी भी देश का दर्पण होता है।’ वेदों के युग से लेकर ब्राम्हण युग तक अनेक साहित्यों की रचना हाती रही और समाज की आवश्यकतानुसार शिक्षा में भी परिवर्तन होता रहा। “वेद” शब्द ‘विद्’ धातु से बना है जिसका अर्थ है-‘ज्ञान’। सायण ने वेदु को ईष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट को दूर करने वाला बताया है। चारों वेदों की साथ-साथ पुराण, स्मृति आदि से अनेक नवीन ज्ञान प्राप्त कर व्यक्ति के मास्तिष्क के कपाट खुलते हैं। वैदिक काल में शिक्षा के लिए विज्ञान, ज्ञान, प्रबोध तथा विनय आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। प्राचीन काल के ग्रन्थों में अशिक्षित को नरकगामी कहा गया है। शिक्षा को प्रकाश का स्रोत माना गया है। गान्धी (1940) के अनुसार “शिक्षा ज्ञान है वह मनुष्य का तीसरा नेत्र है” अर्थात्, “ज्ञान तृतीय मनुजस्य नेत्रं।” इसका अभिप्राय यह है कि ज्ञान से मनुष्य के अन्तः चक्षु खुल जाते हैं। उसे आध्यात्मिक एवं लौकिक प्रकाश मिलता है जो जीवन का पाथेरा है। शिक्षा द्वारा ही समस्त मानव जीवन का विकास सम्भव है। अरविन्द (1949) ने कहा है कि “वैदिक युग से लेकर आज तक भारत में शिक्षा का मूल तात्पर्य रहा है- शिक्षा प्रकाश का

वह स्रोत रहा है, जो जीवन का विभिन्न क्षेत्रों में हमारा सच्चा पथ-प्रदर्शन करता है।”

बालक एवं बालिकाओं की समस्त समस्याओं का हल मात्र 'शिक्षा' ही है। शिक्षा से मनुष्य ज्ञान का उदय होता है। ज्ञान मनुष्य का तीसरा नेत्र है जो उसे समस्त तत्वों को समझने में समर्थ करता है एवं सन्मार्ग पर प्रवृत्त करता है।

“ज्ञानं तृतीयं मनुजस्य नेत्रं समस्त तत्वार्थं विलोकितक्षमम् ।
तेजोऽनपेक्षं विगतान्तरायं प्रवृत्तिमत्सर्वं जगन्त्रयेऽपि ॥”

—सुभाषितरत्न संदोह

शिक्षा मानव की समृद्धि के लिए अत्यन्त आवश्यक है। शिक्षा से ही मानव जीवन सार्थक बनता है। इससे मनुष्य में विवेक जागृत होता है और उचित मार्गदर्शन मिलता है। सुभाषित रत्न संदोह में कहा गया है कि विद्या माता की तरह मनुष्य की रक्षा करती है, पिता के समान हितकारी में नियोजित करती है, पत्नी के समान रेवदों को दूर करती है, धन का अर्जन करती है, चतुर्दिक यज्ञ का विस्तार करती है। अतः कल्पलता के समान विद्या मनुष्य के लिए क्या-क्या लाभ नहीं करती है।

शिक्षा का तात्पर्य केवल पुस्तकीय ज्ञान से ही नहीं होता बल्कि समाज की विभिन्न संस्थाएं अपने संचित अनुभवों के आधार पर जो व्यावहारिक ज्ञान व्यक्ति को प्रदान करती रहती है उनका भी शिक्षा में उतना ही महत्वपूर्ण स्थान है। इसी आधार पर फिलिप्स का कथन है कि:-

“शिक्षा चाहे पुस्तकीय ज्ञान से सम्बद्ध हो चाहे यह ज्ञान लोक-रीतियों और प्रथाओं के रूप में दिया जाना हो अथवा यह परिवार के दैनिक कार्यों या व्यवसाय के माध्यम से हो, इस सम्पूर्ण ज्ञान को हम शिक्षा के अन्तर्गत सम्मिलित करते हैं, यह वह ज्ञान है जो हमें अतीत के अनुभव देता है, वर्तमान को समझने की क्षमता प्रदान करता तथा भावी परिस्थितियों के विश्लेषण के लिए तर्क बुद्धि देता है।”

अध्ययन का उद्देश्य

1. शिक्षा की भूमिका का अध्ययन करना।
2. शिक्षा के माध्यम से लोगों का विकास करना।
3. शिक्षा के द्वारा व्यक्ति को आत्मनिर्भर बनाना।
4. व्यक्तियों के सामाजिक-आर्थिक स्तर के विकास में शिक्षा की भूमिका का अध्ययन करना।
5. शिक्षा के द्वारा समाज में व्याप्त कुरीतियों और अन्धविश्वासों को दूर करना है।

परिकल्पना

किसी भी अनुसंधान में अन्तिम उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए परिकल्पना का निर्माण प्रारम्भिक आवश्यकता होती है, क्योंकि परिकल्पना के निर्माण के बिना न तो कोई प्रयोग हो सकता है और न ही कोई वैज्ञानिक विधि से अनुसंधान सम्भव है, वास्तव में परिकल्पना के अभाव में अनुसंधान कार्य एक उद्देश्यहीन क्रिया है। अतः शोधार्थी ने भी अपने इस शोध पत्र में निम्नलिखित परिकल्पना का निर्माण किया गया है:-

1. शिक्षा के द्वारा समाज का विकास किया जा सकता है।

2. शिक्षा के माध्यम से लोगों का विकास किया जा सकता है।
3. शिक्षा के द्वारा समाज में व्याप्त कुरीतियों और अन्धविश्वासों को दूर किया जा सकता है।
4. शिक्षा के द्वारा व्यक्ति को आत्म निर्भर बनाया जा सकता है।

शोध प्रविधि

1. प्रस्तुत अध्ययन के लिए सर्वेक्षण विधि का प्रयोग किया जाएगा।
2. सर्वेक्षण के लिए एक क्षेत्र चयनित किया जायेगा।
3. सर्वेक्षण कर यह पता लगाया जाएगा की समाज में शिक्षा द्वारा कितना परिवर्तन आया है।
4. साक्षात्कार अनुसूची द्वारा यह जानने का प्रयास किया जाएगा कि समाज के सामाजिक, आर्थिक स्तर, राजनैतिक जीवन एवं सांस्कृतिक परिवर्तन को शिक्षा कितना प्रभावित करती है।

निष्कर्ष

प्रस्तुत शोध-पत्र से यह स्पष्ट होता है कि हमारे देश में आज भी जो वर्ग सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से जो पिछड़े हुए हैं, उनकी उन्नति एवं विकास के लिए सरकार बहुत प्रयत्नशील है, हमारे संविधान में यह स्पष्ट रूप से लिखा है कि धर्म, लिंग, वंश, जाति, भाषा आदि के आधार पर नागरिकों के साथ किसी भी प्रकार का भेद-भाव नहीं किया जायेगा। अर्थात् सभी नागरिक समान होंगे। सरकार का यह प्रयास तभी सम्भव है, जब समाज का प्रत्येक प्राणी शिक्षित होगा और जब प्रत्येक प्राणी शिक्षित होगा तभी समाज का विकास होगा। शिक्षा के बिना समाज का विकास अधूरा है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. उपहार : भारत की जनसंख्या 2001, उपकार प्रकाशन आगरा-2,
2. नेहरू, जे0एल0, कन्वोकेशन अड्रेन्स टू द यूनिवर्सिटी ऑफ इलाहाबाद एज साइटेड इन एजूकेशन एण्ड नेशनल डिवलोपमेण्ट रिपोर्ट ऑफ द एजूकेशन कमीशन, 1964-64 न्यू डेलही : एन0सी0ई0 आर0टी0, 1970,
3. मजूमदार डी0एन0, भारतीय जन संस्कृति, द्वितीय संशोधित संस्करण पनार मुद्रक नजीराबाद लखनऊ-1985,
4. मुकर्जी, आर0के0, एनसियन्ट इण्डियन एजूकेशन मैकमिलन, 1947
5. पोफेनबरगर, ए0टी0 : प्रिन्सिपल्स ऑफ अप्लायड साइकोलॉजी, बाम्बे एलायड पब्लिक लि0, इण्डियन एजूकेशन, 1961
6. जोसेफ, एच0, सोसेक, सोशियोलोजिकल फाउण्डेशन आफ एजूकेशन,
7. एजूकेशन एण्ड नेशनल डिवलोपमेण्ड - रिपोर्ट ऑफ द एजूकेशन कमीशन- 1964-66 न्यू डेलही, एन0 सी0 ई0 आर0 टी, 1970